P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-5* ISSUE-1* September- 2017
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

मानव–सभ्यता के समीक्षक 'प्रसाद'

अनिता जैन
कार्यकारी प्राचार्या,
हिन्दी विभाग,
जे0 ए0 वी0जी0 डिग्री कॉलेज,
बड़ौत

सारांश

प्रसाद साहित्य में हमें प्राचीन भारतीय सभ्यता के भव्य चित्र देखने को मिलते हैं। उन्होंने केवल भारतीय सभ्यता के सौन्दर्य का उद्घाटन करने तक ही अपने को सीमित नहीं रखा है। वे मानव जीवन के व्याख्याता, एक सच्चे साहित्यकार की तरह स्व की सीमा से आगे बढ़कर मानव सभ्यता की गंभीर गवेषणा और विश्लेषण में भी प्रवृत्त एवं निमग्न हुए है। मानव–सभ्यता की प्रगति ठीक दिशा में और संतोषजनक रूप में हो रही है या नहीं, इसका स्थायी मानदण्ड उनकी आँखों में आदि से अंत तक विद्यमान है। वह मानदंड है–मानव का सच्चा सुख। अतः सभ्यता के विश्लेषण के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह मानव–सुख के स्वरूप और उसकी प्रकृति से परिचित हो। प्रसाद बौद्धिक और भावात्मक दोनों धरातलों पर मानव–जाति के चरम–लक्ष्य के प्रति जागरूक है। व्यक्ति केन्द्र में यह लक्ष्य है– 'आत्मा का 'गम्भीर आनन्द' और विश्व केन्द्र में यह लक्ष्य है (मानव जाति का कल्याण) समानता, विश्वमैत्री आदि के आधार पर मानव जाति की एकता। अनेक सभ्यताओं के निर्माण की प्रक्रिया द्वारा मानव–जाति अपने लक्ष्य की प्राप्ति की चेष्टा करती आ रही है, पर कभी–कभी यह भ्रान्ति की भूल–भुलैया में भी फंस जाती है। 'कंकाल', 'कामना' और 'कामायनी' आदि रचनाओं में प्रसाद जी ने मानव–सभ्यता की समस्या को विशेष सम्भार के साथ उठाया है। 'कामना' की रचना तो मानव को सच्चे सुख का मार्ग दिखाने की प्रेरणा से ही हुई है। मानव–सभ्यता के विकास का एक पूर्ण चित्र प्रस्तुत कर 'प्रसाद' जी ने दिखाया है कि किस प्रकार एक स्थूल भोगमूलक–सभ्यता मानव–जाति का विनाश करती है। लालसा, भोग और विलास को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानकर चलने वाली जाति जिस जीवन–पद्धति की स्थापना करती है, उसके द्वारा मानव की सच्ची शान्ति आकाश–कुसुमवत् है। वहाँ किस प्रकार अधिकारों की सृष्टि होती है, अपराधों की आंधी चलती है, दंड, कानून, विधान, शासन, सेना, अपराध, स्पर्धा, हत्या व मारकाट की एक जटिल व अटूट परम्परा चल पड़ती है, विघटन का एक अनवरत चक्र चल पड़ता है, यह 'कामना' में अत्यन्त उच्चाशयता' व मार्मिकता के साथ चित्रित हुआ है। किन्तु साथ ही अपनी अन्तिम कृति 'कामायनी' के माध्यम से आपने इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए यह भी दर्शाया है कि केवल विकास के उपकरण जुटा लेने मात्र से या सुदृढ़ शासन प्रणाली की स्थापना कर लेने मात्र से मानव सुखी नहीं हो सकता, अपितु आनन्द का सही मार्ग समरसता की दृष्टि का विकास कर इच्छा, ज्ञान और क्रिया में सामंजस्य उत्पन्न कर जीवन व्यतीत करना है।

मुख्य शब्द : गवेषणा, सम्भार, आकाश–कुसुमवत, उपादान, एषणा, अभ्रंकष, अवरूद्ध, मूर्तिमान, क्लीव, सन्धि–विग्रहिक, गुल्म–रचना, नाराच, हिंस्रिकाएं, राजकिल्विष, तूर्य, भित्ति, उत्कर्ष, पराभूत उन्मेष आदि।

प्रस्तावना

जयशंकर प्रसाद एक बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार है। उनकी रचनायें हिन्दी–साहित्य की अमूल्य निधि है। आप एक युग दृष्टा साहित्यकार थे, इसीलिये आपकी रचनाओं में हमें तात्कालीन समाज का सच्चा चित्र देखने को मिलता है। आप एक वैज्ञानिक विचारक है। सुदीर्घ इतिहास के गम्भीर अनुशीलनकर्ता के नाते आप मानव और मानव–जीवन की नियति में अत्यन्त गहरी रूचि रखते हैं। आप उन विचारकों में से नहीं हैं, जो जीवन को एक अंधी दौड़ मानकर चलते हैं। उनकी नियति जो ऊपर से एक अंध शक्ति सी जान पड़ेगी, का सिद्धान्त भी यह बताता है कि जीवन एक महत लक्ष्य है और वह इस पृथ्वी पर मानव के द्वारा ही सिद्ध होगा। नियति अपने ढ़ंग से चुपचाप इस योजना को कार्यान्वित करती ही है। जीवन की नैतिक व्यवस्था व उसके लक्ष्य

की उच्चता उनके चिन्तन का प्रस्थान बिन्दु है। तात्पर्य यह है कि उनका सभ्यता सम्बन्धी चिन्तन मानव और मानव–जीवन के भावात्मक या स्वीकारात्मक लक्ष्य पर टकटकी लगाये रखते हुए गतिशील रहा है। एक आत्मवादी, आनन्दवादी, दार्शनिक का विश्व की मूल व्यवस्था की नैतिकता में विश्वास रखना अवश्यम्भावी है।

शोध प्रविधि

प्रस्तावित शोध–पत्र में मननात्मक शोध की निरूपणात्मक व्याख्यात्मक और मूल्यांकन परक विधियों को अपनाया गया है। यहाँ मुख्यतया शोध परक वस्तुनिष्ठ विधि का प्रयोग किया गया है।

अध्ययन का उद्देश्य

साहित्य का सम्बन्ध सभ्यता की अपेक्षा संस्कृति से अधिक सीधा व घनिष्ठ होता है तथापि हमें ऐतिहासिक साहित्य में सभ्यता के अनेक भव्य चित्र देखने को मिलते हैं। वास्तव में भौतिक विकास में भी आत्मा अपने को प्रकाशित करता है, क्योंकि भौतिक विकास मूलतः बुद्धि पर आश्रित है, जिसमें चैतन्य आत्मा बुद्धि की सात्विकता व निर्मलता के अनुपात में प्रतिबिम्बित होती है। अतः सभ्यता की सामग्रियाँ भी दार्शनिक दृष्टि से उच्च स्थान रखती है। सभ्यता के इस स्वरूप से परिचित होने पर साहित्य में सोत्साह उसके निरूपण के रहस्य से भी हम अवगत हो सकते है। तात्पर्य यह है कि हृदयगत भाव व काव्यरस के नाते सभ्यता का सीधा सम्बन्ध साहित्य के साथ बैठ जाता है। प्रस्तुत शोध–पत्र का उद्देश्य प्रसाद साहित्य में वर्णित मानव–सभ्यता को स्पष्ट करना ही है।

विषय–प्रवेश

विश्व का निर्माण वैशेषिक दर्शन परमाणुओं से मानता है और सांख्य दर्शन त्रिगुणात्मिका प्रकृति से। दोनों ही दर्शन पदार्थ वादी हैं। आत्मवादी, अद्वैत वेदान्त दर्शन व प्रत्यभिज्ञादर्शन अणु, परमाणु या प्रकृति को न मानकर ब्रह्मा या परमशिव को ही सृष्टि का उपादान व निमित्त कारण मानते हैं। परमाणुवादियों का कहना है कि सृष्टि परमाणुओं के द्वारा स्वतः बन गई है, पर यह तथ्य चेतनवादियों को स्वीकार नहीं। उनका कहना है कि बिना किसी सजग चेतन सत्ता की सहायता के परमाणु स्वयमेव किसी सार्थक व नियमबद्ध सृष्टि की रचना कदापि नहीं कर सकते। इसलिये मात्र इतना ही कहना पर्याप्त है कि कुछ दार्शनिकों के अनुसार सृष्टि एक विराट अदृश्य नियम से और एक व्यवस्था के साथ चल रही है। पर इस नियम और व्यवस्था का कोई न कोई लक्ष्य होना चाहिये। हम यह लक्ष्य व्यापक रूप से मानव की पूर्णता मान सकते हैं। संसार के सब व्यक्ति या राष्ट्र स्वभावतः सुख के ही अभिलाषी हैं। अतः मानव की पूर्णता को लक्ष्य मानने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती। महान लक्ष्य की प्राप्ति के लिये साधन और उपकरण भी महान चाहिये और आयोजन भी। मनुष्य शारीरिक दृष्टि से दुर्बल है, उसे प्रकृति की प्रचंड शक्तियों–शीत, घाम, झंझा आदि से लड़ना पड़ता है, उसे हिंस्र व विषैले जन्तुओं का भय है, उसकी काम व भूख की प्राकृतिक एषणायें तथा अन्य व्यक्तिगत महत्वाकांक्षायें उसे नाच नचाती है, उसकी जन्मजात प्राकृतिक जिज्ञासा उसे अभ्रंकष गिरि–शिखरों पर, हिमाच्छादित ध्रुव प्रदेश में, चन्द्रलोक पर, समुद्र के तल में व हिंस्र वनों में ले जाती है, उसके हृदय की सौन्दर्यभावना व रहस्य–भावना आदि उसके लिये अनेक सूक्ष्म कोमल आवश्यकतायें उपजा देती है। इस प्रकार मानव का मार्ग पग–पग पर अनेक इच्छाओं, आकांक्षाओं व परिस्थितियों से अवरूद्ध है। किन्तु फिर भी चरम पूर्णता का सुदूर व मोहक लक्ष्य वह भूल नहीं पाता। अपने लक्ष्य को अधिक पूर्णता, सुविधा व सरलता से प्राप्त करने के लिये वह प्रकृति के प्रकोपों से लड़ता हुआ अपने चारों ओर फैले साधनों से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भौतिक जगत में जो कुछ रचता है, उसी का नाम 'सभ्यता' है। संस्कृति हमारे आन्तरिक गुण व शील का पुंज है तो सभ्यता हमारा बाह्य और स्थूल निर्माण। प्रत्येक राष्ट्र की जिस प्रकार एक संस्कृति होती है, उसी प्रकार एक सभ्यता भी। पर सभ्यता का विकास सदा अनिवार्यतः मानव–सुख की उपलब्धि का ही पर्याय नहीं है। सभी प्रकार की सुख–सामग्री से सम्पन्न अतिविकसित मानव–सभ्यता भी प्रायः व्यक्ति या समाज के उच्चतम मूल्यों के लिये नाशकारिणी सिद्ध होती है। इसके विपरीत साधनहीन वन्य या असभ्य जातियाँ सच्चे सुख या शान्ति का अधिक जीवन्त अनुभव करती हैं। उनके विश्वास व नैतिक नियम आदि अधिक संपूज्य होते हैं।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते है कि सभ्यता का विकास मानव–बुद्धि के विकास व पुरूषार्थ की उत्कृष्टता का तथा प्रकृति पर विजय प्राप्त कर जीवन के महान आदर्शों के प्राप्ति पथ पर मानव की जययात्रा का प्रतीक है। सभ्यता के रूप में मानवात्मा की ही अभिव्यक्ति हो रही है। विश्व के अन्य देशों की भांति भारत की भी अपनी एक सभ्यता रही है, जो इतिहासकारों के अनुसार पर्याप्त समुन्नत थी।

सभ्यता बौद्धिक विकास है, जो प्रकृति पर विजय के साधन रूप बाहय आविष्कारों के रूप में मूर्तिमान होती है। पर साहित्य आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति है, इसलिये साहित्य का सीधा सम्बन्ध संस्कृति से है, न कि सभ्यता से। सांस्कृतिक मूल्य ही साहित्य के वस्तुगत मूल्य हैं। सभ्यता सांस्कृतिक विकास के लिये बाह्य–सुविधा मात्र प्रदान करती है।

प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य प्रसाद साहित्य में वर्णित भारतीय सभ्यता का वर्णन है, इसलिये हमारे लिये प्रसाद जी के सभ्यता विषयक धारणा को जानना भी आवश्यक है। इसके लिये प्रसाद जी का एक ही वाक्य पर्याप्त है– "सभ्यता सौन्दर्य की जिज्ञासा है"[1] हमारे चारों ओर तथा हमारे मन में सौन्दर्य विविध रूपों में (वस्तुओं व भावनाओं) में विकीर्ण है। सौन्दर्य का आकर्षण अत्यन्त प्रबल होता है। उस सौन्दर्य के साक्षात्कार के लिये हम अनेकों बाह्य साधन (आवास, वाहन, वस्त्र, आभूषण, खाद्य और पेय पदार्थ आदि) तैयार करते है और वे साधन ही सभ्यता है। ये साधन सौन्दर्य के साक्षात्कार के लिये तैयार किये गये उपकरण मात्र है, स्वयं में उतने महत्वपूर्ण नहीं है, जितनी ही हमारी सौन्दर्य के साक्षात्कार की जिज्ञासा प्रबल होगी, उतने ही सूक्ष्म हमारे साधन बनते चले जायेंगे। सभ्यता का इतिहास भी यही बताता है। अब हम प्रसाद–साहित्य में अंकित प्राचीन भारतीय सभ्यता के चित्रों का विवेचन इस प्रकार कर सकते है–

P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-5* ISSUE-1* September- 2017
E: ISSN NO.: 2349-980X Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika

राजनीतिक व्यवस्था

राजनीतिक व्यवस्था संपूर्ण जीवन व्यवस्था या सभ्यता का एक महत्वपूर्ण अंग है। इसके अभाव में देश में वह परिस्थिति संभव नहीं, जिसमें सभ्यता फलती–फूलती रहे और वास्तविक सांस्कृतिक विकास संभव हो। राजनीतिक व्यवस्था वह व्यवस्था है, जिससे देश की भौगोलिक सुरक्षा व उसके दैनिक कार्यों का संचालन होता है। इन लक्ष्यों की सिद्धि के लिये जो भी पदार्थ, संस्था, व्यवहार, विधान–नीति आदि होते है, उन सबका निरूपण सभ्यता के इस स्तम्भ से संयुक्त है। प्रसाद जी ने अपनी ऐतिहासिक कृतियों द्वारा यह बताया है कि अतीत भारत में राजनीतिक व्यवहार–विन्यास भी विकास की किस सीमा तक पहुँच गया था। प्रसाद जी ने बताया है कि समाज में सुख और शान्ति की स्थापना के लिये सुशासन का बड़ा महत्व है। शासन की दृष्टि से भारत में राजतन्त्र, प्रजातन्त्र, गणतंत्र आदि सबका प्रयोग करके देखा गया था। भारत में राजसिंहासन , निर्बाध भाग्य का प्रतीक न रहकर लोकरक्षण एवं लोकरंजन का प्रतीक था, जहाँ सिंहासन को एक पवित्र वस्तु माना जाता था। राजकुल को कलुषित करने वाला राजा श्रद्धा का पात्र नहीं समझा जाता था। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में रामगुप्त के द्वारा ध्रुवस्वामिनी को शकराज की पत्नि बनने के लिये शकराज के शिविर में भेज देने पर राजा का विरोध करते हुए एक सामन्त कहता है– "मैं सच कहता हूँ" रामगुप्त जैसे राजपद को कलुषित करने वाले के लिये मेरे हृदय में तनिक भी श्रद्धा नहीं।"[2]

राजा धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिये ही होना चाहिये। असमर्थ शासक को पदच्युत करने का अधिकार प्रजा परिषद को प्राप्त था। शासक नीति पूर्वक राज संचालन करते थे। शांतिकाल में कार्य की सुविधा की दृष्टि से विविध पदाधिकारी–दौवारिक, आन्तर्वेशिक, दुर्गपाल, महामात्य, अमात्य, परमभट्टारक, देव कुलिक, प्रादेशिक आदि होते थे। शत्रु को पीड़ित करना तत्कालीन युद्धनीति का अंग था। चन्द्रगुप्त प्रतिपद यवनों को कष्ट देना चाहता है। शत्रु को उलझाये रखना व उसकी सामग्री नष्ट करना नीति–सम्मत है।[3] चाणक्य का मत है कि केवल शौर्य से काम नहीं चलता। .... "चाणक्य सिद्धि देखता है साधन चाहे जैसे भी हो"।[4] गुप्त ढ़ंग सें कार्य करते हुए शत्रु को पराजित एवं निस्तेज कर देना ही नीति है। चाणक्य कहता है– "पौधे अंधकार में बढ़ते है, मेरी नीति लता भी उसी भांति विपत्तितम में लहलही होगी।[5] चर या गुप्तचर की व्यवस्था भी भारतीय शासन–नीति का अंग है, जिससे जनता की वास्तविक स्थिति जानी जा सके व युद्ध–काल में शत्रुओं की गतिविधि एवं गुप्त योजनाओं का पता लगाया जा सके। प्रसाद जी की लगभग सभी नाट्य रचनाओं में गुप्तचरों का विधान मिलता है। राजचिह्न, मुद्रा आदि का बड़ा महत्व था। मर्यादासूचक शासकीय शिष्टाचार का निर्वाह आवश्यक समझा जाता था और राजपरिषद का निर्णय अन्तिम रूप से मान्य समझा जाता था। इसीलिये ध्रुवस्वामिनी नाटक में जब परिषद के सब लोग रामगुप्त के लिये निर्णय देते है कि 'अनार्य, पतित और क्लीव रामगुप्त, गुप्त–साम्राज्य के पवित्र सिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं है[6] और रामगुप्त कहता है कि "तुम सब पाखंडी हो, विद्रोही हो। मैं अपने न्यायपूर्ण अधिकार को तुम जैसे कुत्तों के भौंकने पर न छोड़ दूंगा।[7] तो शिखरस्वामी 'रामगुप्त' को समझाते हुए कहता है– "किन्तु परिषद का विचार तो मानना ही होगा।"[8]

शासन का सबसे बड़ा दायित्व बाहरी आक्रमणों से देश की रक्षा है। इसके लिये सेना तथा पदाधिकारियों की आवश्यकता होती है। भारत में युद्ध–कला–अत्यन्त विकसित थी। सैन्य–रचना व सैन्य–व्यवस्था भी उच्चकोटि की होती थी। कार्य के स्पष्ट विभाजन के लिये युद्ध व सेना से सम्बन्धित विविध पदाधिकारियों जैसे–सेनापति, बलाधिकृत, महाबाधिकृत, सन्धि–विग्रहिक आदि की नियुक्ति होती थी। युद्ध क्षेत्र में गुल्म–रचना होती थी। सुदृढ़ प्राचीर युक्त दुर्ग रचना भी उच्चकोटि की होती थी। दुर्ग ध्वंस करने के लिये यन्त्रों का निर्माण होता था। युद्धकाल में शत्रु की नौकाओं के डुबाने के लिए हिंस्रिकाएं भी होती थी। अस्त्र–शस्त्र युद्ध के लिये अनिवार्य साधन हैं, उनका निर्माण भी प्राचीन भारत में होता था। उस समय तीर, तराच, भाला, कृपाणी, कवच, कटिबंध, धनुष, कटार आदि का प्रयोग मुख्यतया होता था। 'भूगर्भद्वार', 'स्कन्धावार', शिविर आदि के उल्लेख द्वारा तत्कालीन युद्ध–व्यवस्था का अच्छा बोध होता है।

रणविद्या उच्चकोटि की विद्या समझी जाती थी। उसका स्थान बहुत ऊँचा था। तभी तो सिल्यूकस चन्द्रगुप्त की प्रशंसा करते हुए अपनी पुत्री कार्नेलिया से कहता है– "किन्तु उसने उत्तर दिया कि मैं सिल्यूकस का कृतज्ञ हूँ तो भी क्षत्रिय हूँ। रणदान जो भी मागेंगा उसे दूंगा। इसी प्रकार जब चन्द्रगुप्ता सिल्यकूस को बन्दी बना लेता है और कार्नेलिया उससे कहती है कि आप बड़े निर्दयी हो, मेरे बूढ़े पिता की हत्या कर चुके होंगे तो चन्द्रगुप्त कहता है– "यवन सम्राट आर्यकृतध्न नहीं होते। आपको सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देना ही मेरा कर्तव्य था।"[10] इससे क्षत्रिय धर्म एवं रणदान की पवित्रता का बोध होता है। रणकौशल, रणनीति और रणकला युद्ध–विद्या के महत्वपूर्ण अंग थे। रण की प्रक्रिया नीतिमत्ता पूर्ण होती थी। तूर्य, शंख, दुन्दुभि आदि रणवाद्यों का भी प्रयोग होता था। युद्ध–बन्दियों के साथ धर्म और नीति के अनुसार व्यवहार होता था। जघन्यतम अपराधों के लिये भी क्षमा जैसे मानवीय दंड का उपयोग होता था। राजकिल्विष करने वाले को दंड दिया जाता था। तभी तो पुरोहित रामगुप्त के लिये दंड का निर्णय करते हुए कहता है– "और भी रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं, पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राजकिल्विष है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं।[11]

न्याय व नैतिक परम्परा

भाव, विचार और व्यवहार की शुद्धता सब प्रकार की व्यवस्था की नींव है, पर प्रकृति के साथ रज और तम गुण भी है, जो समाज में व्यवस्था भंग करते है। अन्याय और असत् का उन्मूलन कर सत्य के आधार पर न्याय की स्थापना सुखी समाज की प्राथमिक आवश्यकताओं में से है। अतः न्याय सभ्यता का एक दृढ़ स्तम्भ है। प्राचीन

P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-5* ISSUE-1* September- 2017
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

काल में भारतीय न्याय–व्यवस्था की विस्तृत जानकारी हमें प्रसाद जी की ऐतिहासिक रचनाओं में मिलती है।

न्याय, न्यायाधिकरण, अभियोग, अपराध, दंड, क्षमा, राजदंड, नीति आदि का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। शस्त्र बल पर टिकी वीरता बिन पैर की है, उसकी दृढ़–भित्ति न्याय है। दंड के आधार पर न्याय करना राजा का परम धर्म है। मात्र स्थूल प्रतिशोध नहीं, अपितु व्यापक हित व कल्याण ही न्याय की नींव है। न्याय के पक्ष की विजय की सर्वत्र अभीष्ट थी। इसी प्रकार नैतिक परम्परा सभ्यता का सुदृढ़तम आधार है। 'नैतिक' शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। समाज की सुव्यवस्था की दृष्टि से श्रेष्ठ जीवन–मूल्यों के प्रति निष्ठावान, नैतिक आचरण के युगानुरूप अभ्यास व अखंड निर्वाह को हम नैतिक परम्परा कह सकते हैं। नैतिक परम्परा वस्तुतः स्थूल बाहरी आचरण मात्र ही नहीं, जब तक उसका आन्तरिक श्रद्धा आदि गुणों से सम्बन्ध नहीं बैठता, तब तक वह जड़ है। अतः प्रसाद जी ने सर्वत्र श्रेष्ठ नैतिक आचरण को भीतरी श्रद्धा, विश्वास आदि गुणों से सम्बद्ध करके ही उनका प्रकाशन किया है। वास्तव में व्यापक अर्थों में नैतिक परम्परा का सम्बन्ध धर्मनीति, राजनीति व आचार नीति सभी से है। अतः नैतिक परम्परा को हम सांस्कृतिक आचरण अथवा सांस्कृतिक गुणों का व्यवहार पक्ष भी कह सकते हैं। प्रसाद जी ने इतिहास के माध्यम से भारतीय नैतिक परम्परा का उत्कर्ष अनेक स्थलों पर दिखलाया है। सर्वत्र ही अनीति का पतन दिखलाया गया है। उनके साहित्य में जितने भी ऐतिहासिक पात्र है–रामगुप्त, विकटघोष, अजातशत्रु, विरूद्धक, छलना, भट्टार्क, शक्तिमती, विजया, कमला आदि वे सभी किसी न किसी अनैतिक आचरण के कारण दण्डित हुए हैं, अथवा पराभूत हुए है। इसके विपरीत श्रेष्ठ आचरणवान पात्रों मिहिरदेव, चाणक्य, गौतम, व्यास, प्रख्यातकीर्ति, चन्द्रगुप्त, मल्लिका, कोमा आदि के द्वारा प्रसाद जी ने समाज की स्वास्थ नैतिक परम्परा को जीवित, पुष्ट एवं अग्रसर रखने का प्रयत्न किया है। भारतीय जीवन में गुरूकुल, ऋषिकुल, आश्रम व तपोवन का विधान भी समाज में नैतिकता की रक्षा व निर्वाह की दृष्टि से ही हुआ है।

सौन्दर्य–बोध को तीव्रतर करने की योजना

सौन्दर्य–बोध को तीव्रतर करने की योजना भी सभ्यता का एक अन्य दृढ़ स्तम्भ है। मानव में सौन्दर्य प्रेम की एक जन्मजात वृत्ति होती है। इस वृत्ति को सजग एवं ज्वलंत रखना अत्यावश्यक है। वस्तुतः सौन्दर्य बोध की क्षमता के अनुपात में ही मनुष्य के वास्तविक रूप में जीवित रहने के प्रमाण मिलते है। सौन्दर्य की मूलवृत्ति तो जन्मजात है, किन्तु उसे स्वस्थ, पुष्ट व विकसित रखने के लिये व्यक्ति व समाज के स्तर पर जो योजना होती है, वही हमारी सभ्यता का विशिष्ट अंग है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि किसी जाति की सभ्यता कितनी ऊँची है, उसे आंकने के आधारों में से एक आधार यह भी है कि उस जाति अथवा उसके व्यक्तियों की सौन्दर्य बोध की शक्ति को तीव्रतर करने के लिये क्या उद्योग हुए है।

हमारी सौन्दर्य–वृत्ति नैसर्गिक भावनाओं के उन्मेष व प्रकृति के रहस्यपूर्ण सौन्दर्य से उद्बुद्ध होती है। सुन्दर देखना, सुन्दर को समझना, उसकी सराहना करना व सौन्दर्य का कलाकृतियों के रूप में सृजन करना आदि सब सौन्दर्य बोध को तीव्रतर करने की योजना है। भारतीय जाति ने मानव–जीवन के इस पक्ष को पुष्ट करने के लिये जो उद्योग किया है, वह भारतीय सभ्यता का एक बहुमूल्य पक्ष है। प्रसाद जी ने अपनी ऐतिहासिक कृतियों के द्वारा हमारी सभ्यता के इस पक्ष का भी उद्घाटन किया है।

हमारे जीवन का बाह्य पक्ष भी सुन्दर होना चाहिये– यह भारतीयों की दृष्टि रही है। परिणाम स्वरूप बाह्य सौन्दर्य व सज्जा के अनेक साधन अविष्कृत हुए।

आपने भारत के प्राचीन वैभव, सम्पन्नता एवं ऐहिक समृद्धि के अनेक रंगीन–चित्र अंकित किये है। तत्कालीन भारत में बड़े–बड़े नगर सभ्यता व संस्कृति के केन्द्र थे। काशी व पाटलिपुत्र का वैभव विशेष रूप से उल्लेख्य है। बड़े–बड़े दुर्गो, प्रासादों, राजमन्दिरों, देव मन्दिरों, तोरण, 'प्राचीर', उद्यानों, पांथशालाओं आदि का उल्लेख आपने किया है। परिवहन के अनेक साधनों का विकास था। नौका, रथ, अश्व, पालकी, हाथी आदि का उपयोग होता था।

विशेष आयोजनों के अवसर पर भव्य सज्जा की जाती थी। भवनों में 'ताम्बूल वाहनिया' एवं 'चामर–धारिणयाँ' होती थी। रसिकता को सजीव बनाये रखने के लिये ललित कलाओं का अभ्यास व प्रदर्शन होता था।

'वीणावादन', गान, संगीत, नृत्य, वाद्य आदि का प्राचुर्य था। स्वस्थ एवं वीरोचित मनोरंजन के अनेक साधन थे। मृगया (आखेट) वीरों को बहुत प्रिय थी। स्त्री–पुरूष ऋतु के अनुरूप परिधान, सुन्दर व बहुमूल्य वस्त्र धारण करते थे। 'जरतारी ओढ़नी', जरी के कपड़े, सुगन्ध से वासित उत्तरीय, स्वर्णतारों से खचित नीला लहंगा, मणि जड़ित कंचुक, चंचल–चीनांशुक, कौशेय आदि के उल्लेख से भारतीयों की परिधान सम्बन्धी सुरूचि प्रकट होती है। स्त्रियाँ केश–सज्जा भी करती थी, वें अलक्तक, ताम्बूल राग, नीलांजन आदि सौन्दर्य–प्रसाधनों का भी प्रयोग करती थी। वे सतलड़ी स्वर्ण–मेखला, मणि–मेखला, नूपुर, मरकत का हार, वैडूर्य का कंकण, अंगूठी, मणिबन्ध आदि स्वर्ण, रत्नालंकार धारण करती थी। लोग सुगन्धित द्रव्यों का भी प्रयोग करते थे। सुस्वादु, स्निग्ध खाद्य–व्यंजन तथा भीनी महक वाले पेय प्रयुक्त होते थे। बसन्त–विनोद गोष्ठियों, वन–विहार, सौन्दर्य–प्रतियोगिता, रथयात्रा, राजसवारी, मदनोत्सव, संगीत–कला समारोह आदि का उत्साह पूर्ण आयोजन होता था।

नपीतुली परिपाटी वाला, मर्यादासूचक, शिष्टजनोजित, सामाजिक शिष्टाचार का पालन होता था। परस्पर के सम्बोधन अत्यन्त शालीन व सम्मानसूचक होते थे। शुभे, भद्रे, श्रीमती, आयुष्मती, भन्ते, देव, तात, भद्र, आर्यपुत्र, सौम्य, आयुष्मान आदि।

अर्थव्यवस्था व वाणिज्य–विज्ञान

अर्थव्यवस्था, शिल्प, कृषि, जल–थल व्यापार आदि की विकसित स्थिति का ज्ञान 'आकाशदीप', 'दासी' और 'पुरस्कार' कहानियों एवं 'इरावती उपन्यास में मिलता है। इसके अतिरिक्त चिकित्सा कला भी विकसित थी

'जीवक' तक्षशिला से अध्ययन करके लौटे राजवैध थे। 'सालवती' कहानी व 'इरावती' में भी उच्चकोटि की शारीरिक–चिकित्सा के संकेत मिलते हैं। इसके अतिरिक्त 'व्रतभंग कहानी', 'इरावती' उपन्यास व 'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्राचीन यांत्रिक–आविष्कारों के भी संकेत मिलते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद साहित्य के अनुसार भारतीय सभ्यता अत्यन्त विकासशील व समुन्नत थी।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः हम कह सकते है कि प्रसाद जी एक वैज्ञानिक विचारक हैं। सुदीर्घ इतिहास के गंभीर अनुशीलन–कर्ता के नाते प्रसाद मानव–जीवन की नियति में अत्यन्त गहरी रूचि रखते है। उनकी नियति का सिद्धान्त बताता है कि जीवन एक महत् लक्ष्य है और इस पृथ्वी पर मानव के द्वारा ही सिद्ध होगा। नियति अपने ढ़ंग से चुपचाप इस योजना को कार्यान्वित करती है। तात्पर्य यह है कि प्रसाद जी का सभ्यता सम्बन्धी चिन्तन मानव या मानवजीवन के भावात्मक या स्वीकारात्मक लक्ष्य पर टकटकी लगायी रखते हुए गतिशील रहा है। उन्होंने अपनी अन्तिम कृति 'कामायनी' में मानव–सभ्यता के उद्भव और विकास का सांकेतिक चित्र प्रस्तुत करते हुए प्रस्तुत करते हुए दर्शाया है कि मात्र विकास के उपकरण जुटा लेने से मानव सुखी नहीं हो सकता। सारस्वत प्रदेश में मनु की सहायता से इडा के राज्य में सुशासन की स्थापना व सभ्यता का विकास हो जाने पर भी, वहाँ सच्ची शान्ति नहीं है। वह सभ्यता जो छद्म, गोपन और शरीर सुख पर खड़ी है, मानव की सच्ची सभ्यता नहीं है। प्रसाद जी ने मानव–सभ्यता के विचारक के रूप में अपना जो विचार प्रस्तुत किया है, वह काव्य और नाटक की सरस पद्धति से प्रकट किया जाकर अत्यन्त सरस व विचारोत्तेजक हो उठा है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. *जयशंकर प्रसाद 'कंकाल' पृष्ठ – 83*
2. *जयशंकर प्रसाद 'ध्रुवस्वामिनी' पृष्ठ – 44*
3. *जयशंकर प्रसाद 'चन्द्रगुप्त' पृष्ठ – 107–130*
4. *जयशंकर प्रसाद 'चन्द्रगुप्त' पृष्ठ – 108*
5. *जयशंकर प्रसाद 'चन्द्रगुप्त' पृष्ठ – 108*
6. *जयशंकर प्रसाद 'ध्रुवस्वामिनी' पृष्ठ – 47*
7. *जयशंकर प्रसाद 'ध्रुवस्वामिनी' पृष्ठ – 47*
8. *जयशंकर प्रसाद 'ध्रुवस्वामिनी' पृष्ठ – 47*
9. *जयशंकर प्रसाद 'चन्द्रगुप्त' पृष्ठ – 153*
10. *जयशंकर प्रसाद 'चन्द्रगुप्त' पृष्ठ – 157*
11. *जयशंकर प्रसाद 'ध्रुवस्वामिनी' पृष्ठ – 47*